# शीतला माता

*.....लीना मेहेंदळे*

कुछ वर्षों पहले मुझे पुणे से डॉ देवधर का फोन आया - यह बताने के लिए वे American Journal for Health Sciences के लिए एक पुस्तक समीक्षा कर रहे हैं। पुस्तक थी लंदन यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर आरनॉल्ड लिखित Colonising Body । पुस्तक का विषय है कि प्लासी की लड़ाई अर्थात् १७५६ से लेकर १९४७ तक अपने राजकाल में अंग्रेजी राज्य कर्ताओं ने भारत में प्रचलित कतिपय महामारियों को रोकने के लिए क्या-क्या किया। इसे लिखने के लिए लेखक ने अंग्रेजी अफसरों के द्वारा दो सौ वर्षों के दौरान लिखे गये कई सौ डिस्ट्रिक्ट गझेटियर और सरकारी फाइलों की पढ़ाई की और जो जो पढ़ा उसे ईमानदारी से इस पुस्तक में लिखा। पुस्तक के तीन अध्यायों में चेचक, प्लेग और कॉलरा जैसी तीन महामारियों के विषय में विस्तार से लिखा गया है। अन्य अध्याय विश्लेषणात्मक हैं।

डॉ० देवधर की सूचना थी कि मैं चेचक से संबंधित अध्याय अवश्य पढ़ूं और अपना मत लिखूं जो उनकी पुस्तक समीक्षा में मेरे नाम के साथ शामिल किया जाएगा। बाद में अपनी समीक्षा के अन्त में उन्होंने लिखा था - ''मेरा डॉक्टरी ज्ञान केवल ॲलोपैथी से है। इस पुस्तक में वर्णित कुछ घटनाएँ - जो शायद उस जमाने की आयुर्वेदिक पद्धतियों को उजागर करती है, मेरी समझ से बाहर है। इसलिय मैंने ऐसे व्यक्ति को पूरक समीक्षा लिखने के लिए कहा जिसे आयुर्वेद की समझ के साथ यह भी ज्ञान है कि समाज के लिए स्वास्थ्य - विचार कैसे किया जाता है।'' इन शब्दों के आगे मेरी समीक्षा को जोड़कर उसे जर्नल में छापा गया।

मेरी समीक्षा केवल चेचक के अध्याय के लिए ही सीमित थी, लेकिन उस अध्याय में लेखक ने जो कुछ लिखा है वह इतना महत्वपूर्ण है कि मेरे कई मित्रों ने उसके विषय में विस्तार के लिखने का आग्रह किया है।

सत्रहवीं, अठारवीं और उन्नीसवीं सदी में या शायद उससे कुछ सदियों पहले भी चेचक की महामारी से बचने के लिए हमारे समाज में एक खास व्यवस्था थी। उनका विवरण देते हुए लेखक ने काशी और बंगाल की सामाजिक व्यवस्थाओं के विषय में अधिक जानकारी दी है। चेचक को शीतला के नाम से जाना जाता था और यह माना जाता था कि शीतला माता का प्रकोप होने से बीमारी होती है। लेकिन इससे जूझने के लिए जो समाज व्यवस्था बनाई गई थी उसमें धार्मिक भावनाओं का अच्छा खासा उपयोग किया गया था। शीतला माता को प्रेम और सम्मान से आमंत्रित किया जाता था, उसकी पूजा का विधि विधान भी किया गया था। चैत्र के महीने में शीतला उत्सव भी मनाया जाता था। यही महीना है जब नई कोंपलें और फूल खिलते हैं, और यही महीना है जब शीतला बीमारी अर्थात् चेचक का प्रकोप शुरू होने लगता है। शीतला माता को बंगाल में बसन्ती - चण्डी के नाम से भी जाना जाता है।

काशी के गुरूकुलों से गुरू का आशीर्वाद लेकर शिष्य निकलते थे और अपने-अपने सौंपे गये गाँवों में इस पूजा विधान के लिये जाते थे। चार-पांच शिष्यों की टोली बनाकर उन्हें तीस-चालीस गांव सौंपे जाते थे। गुरू के आशीर्वाद के साथ-साथ वे अन्य कुछ वस्तुएं भी ले जाते थे - चाँदी या लोहे के धारदार ब्लेड और सुईयाँ, और रुई के फाहों में लिपटी हुई ''कोई वस्तु''।

इन शिष्यों का गाँव में अच्छा सम्मान होता था और उनकी बातें ध्यान से सुनी व मानी जाती थीं। वे तीन से पन्द्रह वर्ष की आयु के उन सभी बच्चों और बच्चियों को इकट्ठा करते थे जिनहें तब तक शीतला का आशीर्वाद न मिला हो (यानि चेचक की बीमारी न हुई हो)। उनके हाथ में अपने ब्लेड से धीमे धीमे कुरेदकर रक्त की मात्र एकाध बूंद निकलने जितनी एक छोटी सी जख्म करते थे। फिर रूई का फाहा खोलकर उसमें लिपटी वस्तु को जख्म पर रगड़ते थे। थोड़ी ही देर में दर्द खतम होने पर बच्चा खेलने कूदने को तैयार हो जाता। फिर उन बच्चों पर निगरानी रख्खी जाती। उनके माँ-बाप के साथ अलग मीटिंग करके उन्हें समझाया जाता कि बच्चे के शरीर में शीतला माता आने वाली है, उनकी आवभगत के लिये बच्चे को क्या क्या खिलाया जाय। यह वास्तव में पथ्य विचार के आधार पर तय किया जाता होगा।

एक दो दिनों में बच्चों को चेचक के दाने निकलते थे और थोड़ा बुखार भी चढ़ता थ। इस समय बच्चे को प्यार से रख्खा जाता और इच्छाएं पूरी की जाती। ब्राहम्ण शिष्यों की जिम्मेदारी होती थी कि वह पूजा पाठ करता रहे ताकि जो देवी आशीर्वाद के रूप में पधारी हैं, वह प्रकोप में न बदल पाये। दाने बड़े होकर पकते थे और फिर सूख जाते थे - यह सारा चक्र आठ-दस दिनों में सम्पन्न होता था। फिर हर बच्चे को नीम के पत्तों से नहलाकर उसकी पूजा की जाती और उसे मिष्ठान दिये

जाते। इस प्रकार दसेक दिनों के निवास के बाद शीतला माता उस बच्चे के शरीर से विदा होती थीं और बच्चे को ''आशीर्वाद'' मिल जाता कि जीवन पर्यन्त उस पर शीतला का प्रकोप कभी नहीं होगा।

उन्हीं आठ-दस दिनों में ब्राहम्ण शिष्य चेचक के दानों की परीक्षा करके उनमें से कुछ मोटे-मोटे, पके दाने चुनता था। उन्हें सुई चुभाकर फोड़ता था और निकलने वाले पीब को साफ रुई के छोटे-छोटे फाहों में भरकर रख लेता था। बाद में काशी जाने पर ऐसे सारे फाहे गुरू के पास जमा करवाये जाते। वे अगले वर्ष काम में लाये जाते थे।

यह सारा वर्णन पढ़कर मैं दंग रह गई। थोड़े शब्दों में कहा जाय तो यह सारा पल्स इम्युनाइजेशन प्रोग्राम था जो बगैर अस्पतालों के एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में चलाया जा रहा था। ब्राहम्णों के द्वारा किये जाने वाले विधि विधान या पथ्य एक तरह से कण्ट्रोल के ही साधन थे। हालांकि पुस्तक में सारा ब्यौरा बंगाल व बनारस का है, लेकिन मैं जानती हूं कि महाराष्ट्र में, और देश के अन्य कई भागों में शीतला सप्तमी का व्रत मनया जाता है और हर गाँव के छोर पर कहीं एक शीतला माता का मंदिर भी होता है।

इससे अधिक चौंकाने वाली दो बातें इस अध्याय में आगे लिखी गई थीं।

अंग्रेज जब यहाँ आये तो अंग्रेज अफसरों और सोल्जरों को देसी बीमारियों से बचाये रखने के लिए अलग से कैण्टोनमेंट बने जो शहर से थोड़ी दूर हटकर थे। लेकिन यदि महामारी फैली तो अलग कैण्टों में रहने वाले सोल्जरों को भी खतरा होगा। अतः महामारी के साथ सख्ती से निपटने की नीति थी। महामारी के मरीजों को बस्तियों से अलग अस्पतालों में रखना पड़ता था। उन्हें वह दवाईयाँ देनी पड़ती थीं जो अंग्रेजी फार्मोकोपिया में लिखी हैं, क्योंकि देसी लोगों की दवाईयों का ज्ञान तो अंगेजों को था नहीं और उन पर विश्वास भी नहीं था। अंग्रेजों के लिये यह भी जरूरी था कि कैन्टों के चारों ओर भी एक बफर ज़ोन हो - अर्थात् वहाँ रहनेवाले भारतीय (प्रायः नौकर चाकर, धोबी, कर्मचारी इत्यादि) विदेशी टीके द्वारा संरक्षित हों।

वैसे देखा जाय तो ब्रिटानिका इनसाइक्लोपीडिया जिक्र है कि अठारवीं सदी के आरंभ में चेचक से बचने के लिए टीका लगवाने की एक प्रथा भारत से आरंभ कर अफगानिस्तान व तुर्किस्तान के रास्ते यूरोप में - खासकर इंग्लैंड में पहुँची थी। जिसे Variolation का नाम दिया गया था। अक्सर डॉक्टर लोग इसे ढकोसला मानते थे फिर भी कई गणमान्य लोग इसके प्रचार में जुटे थे और उन्हें इंग्लैंड के समाज में अच्छा सम्मान प्राप्त था। सन् १७६७ में हॉवेल ने एक विस्तृत विवरण लिखकर इंग्लैण्ड की जनता को Variolation के संबंध में आश्वस्त कराने का प्रयास किया।

सन् 1796 में.डॉ. जेनर ने गाय के चेचक के दानों से चेचक का वॅक्सिन बनाने की खोज की। चूंकि यह एक अंग्रेज डॉक्टर का खोजा हुआ तरीका था, अतः इस पर तत्काल विश्वास किया गया और भारत में उसे तत्काल लागू किये जाने की सिफारिश की गई ताकि अंग्रेज सिपाहियों की स्वास्थ्य रक्षा हो सके। इन वॅक्सिनों को बर्फ के बक्सोंमें रखकर भारत लाया जाता था। फिर उससे भारतीयों को चेचक के टीके लगवाये जाते थे। टीका लगाने का तरीका ठीक वही था जो हमारे ब्राम्हण इस्तेमाल करते थे लेकिन इस पद्धति का नाम पडा वॅक्सिनेशन। इसके लिये बड़ी सख्ती करनी पड़ती थी क्योंकि यदि किसी भारतीय ने अंग्रेजी टीका नहीं लगवाया तो अंग्रेज डॉक्टरों का डर था कि आगे उसे चेचक निकलेंगे और वह महामारी फैलाने का एक माध्यम बनेगा। आरंभ काल में अंग्रेजी टीका लगाने के तरीके काफी दुखद होते थे। उनकी जख्में बड़ी होती थीं और बच्चे या बूढ़े उन्हें लगवाने से डरते और रोते पीटते थे। जेनर विधि के अर्न्तगत वैक्सिनेशन का टीका लगवाने पर उस जगह घाव हो जाता था और बुखार भी निकलता था, लेकिन चेचक के दाने नहीं उभरते थे जैसा कि देसी वेरीओलेशन की प्रणाली में निकलते थे।

ऐसा लगता है कि देशी विधा से इम्युनायझेशन कराने वाला कोई ब्राम्हण गुरू या शिष्य अंग्रेजों को यह समझाने की स्थिति में नहीं था कि शीतला के लिये वे जो कुछ करते हैं वह क्या है और न ही खुद समझ पाया था कि अंग्रेजी डॉक्टर टीका लगाते हैं तो क्या करते हैं। लेखकय का वर्णन पढने से ऐसा लगता है मानों दोनों ओर से लोग अनभिज्ञ थे कि वे एक ही काम कर रहे हैं। फिर भी कहीं ना कहीं अंग्रेजों को यह समझ थी कि जब तक काशी के ब्राम्हणों के शिष्य अपना वेरिओलेशन का कार्यक्रम कर रहे हैं तब तक उनके लिये चुनौती कायम रहेगी। उसे रोकने के लिए देशी तरीके को अशास्त्रीय करार दिया गया और शीतला का टीका लगाने वाले ब्राम्हणों को जेल भिजवाया जाने लगा। तब ब्राम्हणों ने अपनी विद्या गाँव गाँव के सुनार और नाइयों को पढ़ाई। इस प्रकार उनके माध्यम से भी यह देसी पद्धति से टीके लगाने का काम कुछ वर्षों तक चलता रहा। जिन

सुनार व नाइयों को यह विद्या सिखाई गई उनका नाम पडा टीकाकार और आज भी बंगाल व ओरिसा में टीकाकार नाम से कई परिवार पाये जाते हैं, जो मूलतः सुनार या नाई दोनों जातियों से हो सकते हैं। शायद उनके वंशज नहीं जानते थे कि यह नाम उनके हिस्से में कहाँ से आया।

हमारे पुराने सारे कर्मकाण्डों में यह पाया जाता है कि एक छोटी सी शास्त्रीय घटना को केन्द्र में रखकर उसे ऊपर से उत्सवों का और कर्मकाण्डों का भारी भरकम चोला पहनाया जाता था। वह चोला दिखाई पड़ता था, उसमें चमक-दमक होती थी। लोग उसे देखते, उन कर्मकाण्डों को करते और सदियों तक याद रखते। आज भी रखते हैं। लेकिन प्रायः उनकी आत्मा अर्थात् वह छोटा सा शास्त्रीय काम जिसके लिए यह सारा ताम झाम किया गया, काल के बहाव में लुप्त हो जता क्योंकि उसके जानकार लोग कम रह जाते थे। आज भी महाराष्ट्र, कर्नाटक और आन्ध्र में रिवाज हे कि चैत्र मास में छोटे-छोटे बच्चे सिर पर तांबे का कलश लेकर नदी में नहाने जाते हैं। कलश को नीम के पत्तों से सजाया जाता है। गीले बदन नदी से देवी के मंदिर तक आकर कलश का पानी कुछ शीतला देवी पर चढ़ाते हैं और कुछ अपने सिर पर उंडेलते हैं। इसी प्रकार शीतला सप्तमी का व्रत भी प्रसिद्ध है जो श्रावण मास में किया जाता है।

आरंभ से आयुर्वेद के प्रचार प्रसार में विकेन्द्रीकरण का बड़ा महत्व रखा गया था जो आधुनिक केन्द्रीकरण और अस्पताल व्यवस्था के बिल्कुल भिन्न है। आयुर्वेद के विभिन्न सिद्धान्तों को अत्यन्त छोटे छोटे कर्मकाण्डों और रीति रिवाजों में बाँटकर घर घर तक पहुँचाया गया था। उन सिद्धान्तों के अनुपालन में परिवार की महिला सदस्यों का विशेष स्थान था। अतएव आयुर्वेद का ज्ञान महिलाओं के पास सुरक्षित रहता था और प्रायः उन्हींके द्वारा उपयोग में लाया जाता। औरतों को परिवार में सम्मान का स्थान मिलने के जो कई कारण थे उसमें स्वास्थ्य रक्षा का भी एक महत्वपूर्ण कारण था। यह आयुर्वेद का ज्ञान औरतों द्वारा परिवार के पास पडोस की सेवा के लिये लगाया जाता। यदि कोई परिवार आर्थिक अडचन में आए तभी यह ज्ञान परिवार के पुरुषों के माध्यम से आर्थिक आय जुटाने के काम में प्रयुक्त किया जाता। परिवार में औरतों का सम्मान घटने का एक कारण यह भी रहा है कि आयुर्वेद के माध्यम से स्वास्थ्य रक्षा का जो ज्ञान उनके पास था वह अब छिन चुका है।

विकेन्द्रीकरण का एक माध्यम यदि महिलाएं थीं तो दूसरा माध्यम था समाज के विभिन्न वर्ग। उदाहरणस्वरूप हम ब्राम्हण जाति को देखें। साधरणतया ब्राम्हण बच्चों को छोटी आयु में ही विद्याध्ययन के लिये गुरु के पास भेज दिया जाता था जहाँ उन्हें बिना आर्थिक भेदभाव के करीब पन्द्रह से बीस वर्ष गुरु के पास बिताने पड़ते । इस दौरान देश-प्रांत घूमकर वे सारे काम भी पूरा करने पड़ते थे जेसा गुरू आदेश दे, और इसी का नमूना था शीतला के टीके लगाना जैसा पहले वर्णन किया गया है। इन पर्यटनशील ब्राम्हण शिष्यों के माध्यम से वे सारी सामाजिक व्यवस्थाएं चलाई जातीं जिनमें बड़े पैमाने पर एक साथ क्रियान्वयन की आवश्यकता होती थी जैसा कि शीतला माता के संबंध में देखा जा सकता है। इसीलिये जो भी ब्राम्हण गृहस्थश्रम में न हो उसके लिये देश देशान्तरों में घूमना और अपरिग्रह जैसे नियम आवश्यक थे। इस विकेन्द्रीकृत सामाजिक व्यवस्था द्वारा आयुर्वेद के लिये आवश्यक विकेन्द्रीकरण संभव हुआ करता था।

यह भी सोचने की बात है कि यदि यह देशी व्यवस्था कारगर थी तो चेचक की महामारी इतनी भ्यावह क्यों थी? उन्नींसवी सदी में चेचक के विषय में सभी अंग्रेज डॉक्टरों का मत था कि यह भारत की सबसे खतरनाक बीमारी थी जिसके कारण हर वर्ष प्रायः लाख-एक लोगों की जान जाती थी और प्रायः दो लाख से अधिक लोग चेचक के दागों के साथ जीवन गुजारते जिनमें से कई अंधे भी हो जाते थे। इसके उत्तर के लिए अधिक रिसर्च आवश्यक है।

लेखक ने अपनी पुस्तक में Variolation तथा Vaccination दोनों प्रक्रियाओं के विषय में लिखा है। दोनों में बहुत अंतर भी नहीं है। दोनों प्रक्रियायों का उद्देश्यों था कि रोग हो ही नहीं। लेकिन रोग हो जाने पर टीका नहीं लगाया जा सकता। लेखक ने यह भी बताया है कि रोग होने पर क्या किया जाता था। चेचक या मसूरिका रोग के विषय में चरक या सुश्रुत संहिता में अत्यन्त कम वर्णन पाया जाता है जिससे प्रतीत होता है कि पॉचवीं सदी में इस रोग की भयावहता अधिक नहीं थी। किन्तु आठवीं सदी के प्रसिद्ध आयुर्वेदिक ग्रन्थ माधव निदान में इसका विस्तृत वर्णन है। एक बार रोग हो जाये तो इसकी कोई दवा नहीं थी केवल पथ्य विचार था। माँस-मछली, दूध, तेल, घी और मसाले कुपथ्य माने जाते थे। केला, गन्ना, पके हुए चावल, भंग, तरबूजे आदि पथ्यकर थे। बीमारी की पहचान के बाद वैद्य, ब्राम्हणें या कविराज की कोई जरूरत नहीं रहती क्योंकि दवाई तो कोई होती नहीं थी। शीतला माता के मंदिरों के पुजारी प्रायः माली समाज से या बंगाल में मालाकार समाज से होते थे। बीमारों की परिचर्या के लिए उन्हीं को बुलाया जाता था ''माली '' आने के बाद वह घर में सारे माँसाहारी खाने बंद करवाता था।

घी, तेल व मसाले भी बंद करवाये जाते। मरीज की कलाई में कुछ कौडियाँ, कुछ हल्दी के टुकडे और सोने का कोई गहना बांधा जाता था। उसे केले के पत्ते पर सुलाया जाता और केवल दूध का आहार दिया जाता। उसे नीम के पत्तों से हवा की जाती। उसके कमरे में प्रवेश करने वाले को नहा धोकर आना पड़ता। शीतला माता की पंचधातु की मूर्ति का अभिषेक कर वही चरणोदक बीमार को पिलाया जाता। रातभर शीतला माता के गीत गाये जाते। लेखक ने एक पूरे गीत का अंग्रेजी अनुवाद भी किया है जो माता की प्रार्थना के लिये गाया जाता था। दानों की जलन कम करने के लिए शरीर पर पिसी हुई हल्दी, मसूर दाल का आटा या शंख भस्म का लेप किया जाता। सात दिनों तक कलश पूजा भी होती जिसमें चावल की खीर, नारियल, नीम के पत्ते इत्यादि का भोग लगता। चेचक के दाने पक चुकने के बाद जलन को कम करने की आवश्यकता होने पर किसी तेज कांटे से उनहें फोड़कर पीब निकाल दिया जाता। इसके बाद के एक सप्ताह तक बीमार व्यक्ति की हर इच्छा को माता की इच्छा मानकर पूरा किया जाता और माता को ससम्मान विदा किया जाता।''

लेखक के अनुसार शीतला माता का एक बड़ा मंदिर गुडगाँवा में था जिसमें बड़ी यात्रा लगती थी। लेकिन पूरे उत्तरी भारत, राजस्थान, बिहार, बंगाल व ओडिसा में छोटे-छोटे मंदिर थे, जहाँ चैत्र में शीतला माता के पर्व के लिये यात्राएं और मेले लगते थे। बंगाल व पंजाब के कई मुस्लिम परिवारों में भी शीतला माता की पूजा का रिवाज था जिसे समाप्त करने के लिए फराइजी मुस्लिम संगठन के कार्यकर्ता कोशिश किया करते।

लेखक के अनुसार बीमारी न होने का उपाय करना ब्राम्हणों के जिम्मे था जो कि गाँव गाँव जाकर टीके लगवाते थे। बंगाल व ओरिसा में आज भी टीकाकार नाम के कई परिवार हैं। इस विधि का भारत में काफी प्रचार था। लेकिन बीमारी हो जाने पर रोगी की व्यवस्था देखने का काम मालियों के जिम्मे था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इम्युनाझेशन के लिये बीमार व्यक्ति को ही साधन बनाने का सिद्धान्त और चेचक जैसी बीमारी में टीका लगाने का विधान भारत में उपजा था। तेरहवीं से अठारवीं सदी तक यह उत्तरी भारत के सभी हिस्सों में प्रचलित था। १७६७ में डॉ हॉवेल ने भारतीय टीके की पद्धति का विस्तृत ब्यौरा लंडन के कॉलेज ऑफ फिजिक्स में प्रस्तुत किया था और इसकी भारी प्रशंसा की थी। यह पद्धति इंग्लैंड में नई-नई आई थी और हॉवेल उन्हें इसके विषय में आश्वस्त कराना चाहता था। हॉवेल ने बताया कि टीका लगाने के लिये भारतीय टीकाकार पिछले वर्ष के पीब का उपयोग करते थे, नये का नहीं। साथ ही यह पीब उसी बच्चे से लिया जाता जिसे टीके के द्वारा शीतला के दाने दिलवाये गये हों अर्थात जिसका कण्ट्रोल्ड एनवायर्नमेंट रहा हो। टीका लगाने से पहले रुई में स्थित दवाई को गंगाजल छिड़ककर पवित्र किया जाता था। बच्चों के घर ओर पास पड़ोस के पर्यावरण का विशेष ख्याल रखा जाता था। बूढ़े व्यक्ति या गर्भवती महिलाओं को अलग घरों में रख्खा जाता ताकि उन तक बीमारी का संसर्ग न फैले। हॉवेल के मुताबिक इस पूरे कार्यक्रम में न तो किसी बच्चे को तीव्र बीमारी होती और न ही उसका संसर्ग अन्य व्यक्तियों तक पहुँचता - यह पूर्णतया सुरक्षित कार्यक्रम था। सन् १८३९ में राधाकान्त देव ने भी इस टीके की पद्धति का विस्तृत ब्यौरा देने वाली पुस्तक लिखी है। आरनॉल्ड कहता है - ''हालॉकि हॉवेल या देव यह नहीं लिख पाये कि टीका देने की यह पद्धति समाज में कितनी गहराई तक उतरी थी, लेकिन १८४८ से १८६७ के दौरान बंगाल के सभी जेलों के आँकड़े बताते हैं कि करीब अस्सी प्रतिशत कैदी भारतीय विधान से टीका लगवा चुके थे। असम, बंगाल, बिहार और ओरिसा में कम से कम साठ प्रतिशत लोक टीके लगवाते थे। आरनॉल्ड ने वर्णन किया है कि बंगाल प्रेसिडेन्सी में १८७० के दशक में चेचक से संबंधित कई जनगणनाएँ कराई गईं। ऐसी ही एक गणना १८७२-७३ में हुई। उसमें १७६९७ लोगों की गणना में पाया गया कि करीब ६६ प्रतिशत लोग देसी विधान के टीके लगवा चुके थे, ५ प्रतिशत का Vaccination कराया गया था, १८ प्रतिशत को चेचक निकल चुका था और अन्य ११ प्रतिशत को अभी तक कोई सुरक्षा बहाल नहीं की गई थी। बंगाल प्रेसिडेन्सी के बाहर काशी, कुमाँऊ, पंजाब, रावलपिण्डी, राजस्थान, सिंध, कच्छ, गुजरात और महाराष्ट्र के कोंकण प्रान्त में भी यह विधान प्रचलित था। लेकिन दिल्ली, अवध, नेपाल, हैदराबाद और मेसूर में इसके चलन का कोई संकेत लेखक को नहीं मिल पाया। मद्रास प्रेसिडेन्सी के कुछ इलाकों में ओरिया ब्राम्हणों द्वारा टीके लगवाये जाते थे। टीके लगवाने के लिये अच्छी खासी फीस मिल जाती लेकिन कई इलाकों में औरतों को टीका लगाने पर केवल आधी फीस मिलती थी। राधाकान्त देव के अनुसार टीका लगाने का काम ब्राम्हणों के अलावा, आचार्य, देबांग (ज्योतिषी), कुम्हार, सांकरिया (शंख वाले) तथा नाई जमात के लोग भी करते थे। बंगाल में माली समाज के लोग और बालासोर में मस्तान समाज के तो बिहार में पछानिया समाज के लोग, मुस्लिमों में बुनकर और सिंदूरिये वर्ग के लोग टीका लगाते थे। कोंकण में कुनबी समाज तो गोवा में कॅथोलिक चर्चों के पादरी भी टीका लगाते थे। टीका लगाने के महीनों में अर्थात् फाल्गुन, चैत्र, बैसाख में हर महीने सौ सवा सौ रुपये की कमाई हो जाती जो उस जमाने में अच्छी खासी सम्पत्ति थी। कई गाँवों का अपना खास टीका लगवाने वाला होता था और कई परिवारों में यह पुश्तैनी

कला चली आई थी। लेखक के मुताबिक ''चूँकि टीका लगवाने की यह विधि ब्रिटेन में भी धीरे-धीरे मान्य हो रही थी, अतः बंगाल के कई अंग्रेज परिवार भी टीके लगवाने लगे थे। लेकिन सन्.1796.में सर जेनर ने गाय के थन पर निकले चेचक के दानों से Vaccine बनाने की विधि ढूँढ़ी तो इंग्लैंड में उसका भारी स्वागत हुआ। ''अब उस जादू टोने वाले देश के टीके बजाय हम अपने डॉक्टर की विधि का प्रयोग करेंगे।'' जैसे ही जेनर की विधि हाथ में आई अंग्रेजों ने मान लिया कि इसके सिवा जो भी विधि जहाँ भी हो वह बकवास है और उसे रोकना पड़ेगा।

जेनर की विधि सबसे पहले १८०२ में मुम्बई में लाई गई और १८०४ में बंगाल में। इसके बाद ब्रिटिश राज ने हर तरह से प्रयास किया कि भारतीयों की टीका लगाने की विधि अर्थात् Variolation को समाप्त किया जाए। इसका सबसे अच्छा उपाय यह था कि Variolation के द्वारा टीका लगवाने को गुनाह करार दिया गया और टीका लगवाने वालों को जेल भेजा गया। करीब १८३० के बाद चेचक के विषय में अंग्रेजों के द्वारा लिखित जितने भी ब्यौरे मिलेंगे उनमें Variolation की विधि को बकवास बताया गया है और भारतीयों की तथा उनकी अंधश्रद्धा की भरपूर निन्दा की गई ''जिसके कारण वे जेनर साहब के Vaccination जैसे अनमोल रत्न को ठुकरा रहे थे जो उनहें अंग्रेज डॉक्टरों की दया से मिल रहा था और जिसके प्रति कृतज्ञता दर्शाना भारतीयों का फर्ज था।'' भारतीयों द्वारा देसी पद्धति से टीका लगवाने को ''मृत्यु का ब्यापार '' या "Murderous trade" कहा गया।

अन्य जगहों पर आरनॉल्ड ने लिखा है - ''उत्तर पूर्व भारत से अंग्रेजों के द्वारा भारतीय टीके के संबंध में कई विवरण मिलते हैं जो काफी अलग अलग हैं क्योंकि कई बार ये विवरण लेखक की अपनी समझ पर निर्भर है। फ़िर भी देखा जा सकता है कि सन् १८०० से पहले के रिपोर्ट प्रायः इस प्रणाली की प्रशंसा करते थे।''

''देशी टीका पद्धति को दकियानूसी कह कर बंद करवाने के प्रयास के कारण देशी टीकाकार छिप-छिपाकर टीके लगाने लगे। अतएव अब वे पहले जितनी देखभाल या पथ्य विचार नहीं कर सकते थे। देशी टीका पद्धति यदि कहीं-कहीं अप्रभावी होने लगी, तो उसका एक कारण यह भी था।''

''जो अंग्रेज शासन अभी बंदूक की नोक के सहारे था, और मराठों के साथ अभी तक लड़ाईयाँ लड़ रहा था, उसके लिए वॅक्सीनेशन एक ऐसा मुद्दा बन गया जिसके माध्यम से नेटिवों को एहसानमंद किया जा सकता था और कहा जा सकता था कि कंपनी का राज कितनी हमदर्दी से चल रहा है।''

''वैक्सीनेशन को भारतीयों ने शीघ्रता से सर आँखों पर नहीं लिया इससे कई अंग्रेज ऊसर रुष्ट थे। शूलब्रेड ने उन्हें मूर्ख, अज्ञानी और हर नये अविष्कार कर शत्रु कहा (१८०४) तो डंकन स्टेवार्ट ने अकृतज्ञ और मूढ कहा (१८४०) जबकि १८७८ में कलकत्ता के सॅनिटरी कमिश्नर ने उन्हें अंधिविश्वासी, रूढ़िवादी और जातीयवादी कहा। भारतीयों की टीका पद्धती को ही इस व्यवहार का कारण माना गया और कहा गया कि सारे भारतीय टीकाकार अपनी रोजी रोटी छिन जाने के डरसे वॅक्सिनेशन के बारे में गलत बातें फैला रहे थे, जबकि भारतीय पद्धति में ही अधिक लोग मरते हैं।''

''खुद नियति ने यह विधान किया कि हम इस देश पर राज करें और यहाँ लाखों करोड़ों मूढ़ और अज्ञानी प्रजाजनों को उस आत्मक्लेश से बचायें जिसके कारण वे भारतीय टीका लगवाते हैं - शूलब्रेड।''

लेकिन शूलब्रेड के ही समकालीन बुचानन पद्धति में कई अच्छाइयों का वर्णन किया है और १८६० में कलकत्ता के वॅक्सीनेशन के सुपरिटेंडेंट जनरल चार्लस् ने लिखा है ''यदि सारे विधी विधानों का ठीक से पालन हो तो भारतीय पद्धती में चेचक की महामारी फैलने की कोई संभावना नहीं है। हालाँकि मैं स्वयं वॅक्सिनेशन को बेहतर समझता हूँ फ्रि भी मेरा सुझाव है कि भारतीय टीकादारों पर पाबन्दी लगाने के बजाय उनका रजिस्ट्रेशन करके उन्हें उनकी अपनी प्रणाली से टीके लगाने दिये जायें।'' जाहिर है कि यह सुझाव अंग्रेजी हुकूमत को पसंद नहीं आया।

अंग्रेजी पद्धति के लोकप्रिय न होने का एक कारण यह भी था कि कॉफी वर्षों तक अंग्रेजी पद्धती में कई कठिनाईयाँ थीं। उन्नींसवीं सदी के अंत तक यह पद्धती काफी क्लेशकारक भी थी। भारतवर्ष में गायों को चेचक की बीमारी नहीं होती थी। अतः

गाय के चेचक का पीब (जिसे वॅक्सिन कहा गया) इंग्लैंड से लिया जाता था। फिर बगदाद से बंबई तक इसे बच्चों की श्रृखंला के द्वारा लाया जाता था - अर्थात् किसी बच्चे को गाय के वॅक्सीन से टीका लगा कर उसे होने वाली जख्म के पकने पर उसमें से पीब निकालकर अगले बच्चे को टीका लगाया जाता था।''

बाद में गाय के वॅक्सिन को शीशी में बन्द करके भेजा जाने लगा। परंतु गर्मी से या देर से पहुँचने पर उसका प्रभाव नष्ट हो जाता था। उसके कारण बड़े बड़े नासूर भी पैदा होते थे। गर्मियों में दिये जाने वाले टीके कारगर नहीं थे, अतएव छह महीनों के बाद टीके बंद करने पड़ते थे और अगले वर्ष फिर से बच्चों की श्रृखंला बनाकर ही टीके का वॅक्सिन भारत में लाया जा सकता था। यूरोप और भारत में यह भी माना जाता था कि इसी पद्धति के कारण सिफिलस या कुष्ट रोग भी फैलते हैं।

सन् १८५० में बम्बई में वॅक्सिनेशन डिविजन ने गाय बछड़ों में वॅक्सिनेशन कर उनके पीब से टीके बनाने का प्रयास किया परंतु यह खर्चीला उपाय था।

सन् १८९३ में बंगाल के सॅनिटरी कमिश्नर डायसन ने लिखा है - अंग्रेजी पद्धति में एक वर्ष से कम उमर के बच्चों को टीका दिया जाता था। जिस बच्चे का घाव पक गया हो उसे दूसरे गाँवों में ले जाकर उसके घावों का पीब निकालकर अन्य बच्चों को टीका लगया जाता। कई बार घार को जोर से दबा-दबा कर पीब निकाला जाता ताकि अधिक बच्चों को टीका लगाया जा सके। बच्चे, उनकी माएं और अन्य परिवार वाले रोते कलपते थे। टीका लगवाने वाले परिवार भी रोते क्योंकि उनके बच्चों को भी आगे इसी तरह से प्रयुक्त किया जाता था। गाँव वाले मानते थे कि इन अंग्रेज टीकादारों से बचने का ही रास्ता था - कि उन्हें चाँदी के सिक्के दिये जायें। यह सही है कि इस विधी में बच्चे को कोई बीमारी नहीं होती थी या उसे चेचक के दाने नहीं निकलते थे जबकि भारतीय पद्धति में पचास से सौ तक दाने निकल आते थे। फिर भी कुल मिलाकर भारतीय पद्धति में तकलीफें कम थीं। जो भी थीं उन्हे शीतला माता की इच्छा मानकर स्वीकार कर लिया जाता था।

इस सारे विवरण को विस्तार से पढ़ने के बाद कुछ प्रश्न खड़े होते हैं। सबसे पहला प्रश्न यह आता है कि शीतला का टीका लगाने की इस विधि के विषय में हमारे आयुर्वेद के विद्वान क्या और कितना जानते हैं? आज भी काशी इत्यादि तीर्थ क्षेत्रों में पण्डों के पास उनके यजमान कुटुंबों के कई पीढ़ियों के इतिहास या वंशावलियाँ सुरक्षित हैं। क्या इनमें से किसी के पास या आयुर्वेद की पुरानी पोथियाँ संभाल कर रखने वाले परिवारों में किसी के पास इस संबंध में अधिक जानकारी मिल सकती है? दूसरा विचार यह है कि हमारे समाज में कभी यह क्षमता थी कि इस प्रकार की विकेंद्रित प्रणाली का आयोजन किया जा सकता था। आज वह क्षमता लुप्त सी होती दिखाई पड़ती है जोकि गहरी चिन्ता का विषय है। यह भी विचारणीय है कि जैसा गहन रिसर्च आरनॉल्ड ने यह पुस्तक लिखने के लिये किया वैसा गहन रिसर्च हमारे ही देश की स्वास्थ्य प्रणाली के विषय में कितने लोग या कितने आयुर्वेदिक डॉक्टर कर पाते हैं? उनकी क्षमा बढ़ाने के लिये सरकार के पास क्या नीतियाँ हैं और वे कितनी कारगर हैं?

सबसे पहले प्रयास के रूप में इतना तो अवश्य किया जा सकता है कि हमारे आयुर्वेद के डॉक्टर और सरकारी अफसर इस पुस्तक को या कम से कम इस अध्याय को पढ़ लें।

--लीना मेहेंदळे
एक्जीक्यूटिव डॉयरेक्टर, पी.सी.आर.ए, १० भीकाजी कामा प्लेस, नई दिल्ली

---